ॐ

श्रीदक्षिणामूर्तये नमः

संक्षिप्त वेदान्त विचार

प्रवक्ता

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ

श्री १०८ स्वामी महेशानन्द गिरिजी

महाराज आचार्य महामण्डलेश्वर

प्रकाशक

श्रीदक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन, वाराणसी

संवत् २०६७ सन् २०१०

ॐ

श्रीदक्षिणामूर्तये नमः

संक्षिप्त वेदान्त विचार

प्रवक्ता

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ
श्री १०८ स्वामी महेशानन्द गिरिजी
महाराज आचार्य महामण्डलेश्वर

प्रकाशक

श्रीदक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन, वाराणसी

संवत् २०६७ सन् २०१०

ॐ

प्रकाशकीय

आचार्य महामण्डलेश्वर श्री १०८ स्वामी महेशानन्द गिरिजी महाराज ने तारीख **१२.१०.९१** से **१६.१०.९१** तक दिल्ली में मदर्स इण्टरनैश्नल स्कूल में श्री नारायण चोपड़ा, दीवान रघुनाथ सहाय, अरविन्द शिक्षा समिति, सनातन धर्म युवा मण्डल आदि के सत्प्रयास से आयोजित प्रवचनमाला में वेदान्त-सिद्धान्त का संक्षेप में प्रतिपादन किया था जिसे पट्टलेखों में रक्षित रखा था जिनसे सुनकर श्री महेश पचौरी ने ग्रन्थाकार देने के लिये लिपिबद्ध किया। विवेकचूडामणि के श्लोक ४७९ को आधार बनाकर आचार्य ने अपनी चिरपरिचित 'गागर में सागर' रीति से अद्वैत के साध्य-साधन सभी आयामों को स्वानुभूति-समर्थित प्रौढ युक्ति प्रमाणों से आलोकित किया है। यद्यपि यह अत्यन्त संक्षिप्त उपस्थापन है तथापि इसका अगाध गाम्भीर्य इसके निरन्तर श्रवण-मनन से व्यक्त होता है, इसी उद्देश्य से इसे पुस्तिका के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है।

अनुक्रमणिका

प्रवचन १	पृष्ठ १
प्रवचन २	१३
प्रवचन ३	२३
प्रवचन ४	३३
प्रवचन ५	४५

ॐ

संक्षिप्त वेदान्त विचार

प्रवचन - १

विश्वं पश्यति कार्यकारणतया स्वस्वामिसम्बन्धतः
शिष्याचार्यतया तथैव पितृपुत्राद्यात्मना भेदतः।
स्वप्ने जाग्रति वा य एष पुरुषो मायापरिभ्रामितः
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्त्तये।।
पदवाक्यप्रमाणज्ञैर्दीपभूतैः प्रकाशितम्।
ब्रह्म वेदरहस्यं यैस्तान् नित्यं प्रणतोऽस्म्यहम्।।
यद्वाक्सूर्यांशुसम्पातप्रणष्टध्वान्तकल्मषः।
प्रणम्य तान् गुरून् वक्ष्ये ब्रह्मविद्याविनिश्चयम्।।

संसार में संस्कृति का, मानव संस्कृति का प्रवाह निरन्तर बहता रहता है। वस्तुतः संस्कृति मानव संस्कृति ही है क्योंकि मनुष्य में आकर यह विशेषता उत्पन्न हुई है कि वह अपने बारे में स्वयं विचार कर सकता है। अपने आप को विषय करने की योग्यता, अपने आप को देखने की योग्यता, यह मनुष्य को छोड़ कर और किसी पशु-पक्षी के अन्दर नहीं है। इसीलिये बाकी जितने भी प्राणी हैं वे प्रकृति के प्रवाह में बहते रहते हैं, प्रकृति के अधीन हैं। जब तक अपने आप को विषय न किया जाये, अपने आपको समझा न जाये, तब तक

हम प्रकृति से अलग होकर असके नियन्ता, नियामक बन नहीं सकते और जब तक प्रकृति में परिवर्तन करने की सम्भावना नही तब तक हम किसी चीज़ का संस्कार करेंगे कैसे? जब तक संस्कार, परिवर्तन न किया जाये, शोधन, शुद्धि न की जाये, तब तक उसे संस्कृति कैसे कहा जाये? संस्कृति का मतलब है किसी चीज को को शुद्ध करना। संस्कार से संस्कृति आती है। जब तक अपने आप को देखने की योग्यता नही तब तक प्रकृति की अधीनता है, जब अपने आप को देखने की योग्यता आती है तभी संस्कृति, संस्कार, अपने आप को सुधारना संभव होता है।

कुछ समय ऐसा रहता है, प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में और समाज के जीवन में भी, जब हम कुछ प्रकृति के अधीन होते हैं, कुछ प्रकृति के नियामक होते हैं। इसी को साधनकाल कहा जाता है। और जब हम सर्वथा प्रकृति से भिन्न हो जाते हैं, प्रकृति के द्रष्टा बन जाते हैं, साक्षी बन जाते हैं, प्रकृति जब हमारे में कोई नियम लाने में असफल हो जाती है, तब हमारा संस्कार पूर्ण हो गया, तब हम वास्तव में संस्कृत व्यक्ति बन जाते हैं। मानव संस्कृति के प्रवाह में, बहुत बार ऐसे काल आते हैं, जब कोई संस्कार, मनुष्य की प्रकृति के प्रवाह पर इतना हावी हो जाता है कि उसका नियंत्रण लगता है कि हो ही नही सकता। जब-जब ऐसा काल-खण्ड आता है, तब-तब नैतिक मूल्यों का ह्रास होने लगता है। जो प्रकृति पर नियंत्रण करेगा उसी में नैतिकता संभव है, प्रकृति के प्रवाह में बहनेवाला व्यक्ति, नैतिक नहीं हो सकता। नैतिकता का मूल है औचित्य।

क्या चीज उचित, और क्या चीज सुखद है - इसका विवेक चाहिये। इसीलिये वेद कहता है, चाहे व्यक्ति हो चाहे समाज प्रत्येक के सामने दो रास्ते खुले हैं। एक श्रेय का मार्ग है, क्ल्याण का मार्ग है, दूसरा प्रेय का मार्ग है। जो हमें प्रिय लगे, अच्छा लगे, जो हमको सुखद हो, उस मार्ग पर चलना प्रेय मार्ग है। उस सुखद मार्ग को छोड़ करके उचित मार्ग को ग्रहण करना - यह नैतिकता है।

यदि हम को सुख *ही* उपलब्ध हो जाये, तो फिर औचित्य की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। वर्तमान काल में सारे विश्व में प्रवाह आया हुआ है कि निरंतर सुख हो, मूल्यों का, औचित्य का विचार नहीं। जब कभी औचित्य का विचार चलता है तो यही प्रश्न उठता है कि क्या इससे हमें सुख मिलेगा? जब तक हमारे भीतर से निरंतर सुख की कामना हट नहीं जायेगी, तब तक औचित्य-विचार व्यक्ति के और समाज के जीवन में केन्द्र नहीं बन पायेगा। इसी परिस्थिति को लेकर आज से पाँच हज़ार वर्ष पूर्व मिस्र की संस्कृति के सामने इसी प्रकार की समस्या आई थी। उस समय के जो अवशेष मिलते हैं उनमें इस प्रकार के उल्लेख मिलते हैं कि चारों तरफ अव्यवस्था फैल रही थी। किसी प्रकार की नैतिकता नहीं रह गई थी। घरों को लूटना सहज हो गया था। प्रबल लोग कमजोरों को मारते हुये देखे जाते थे। लेखों में यहाँ तक लिखा है कि 'यदि इस जीवन में उत्पन्न न हुये होते तो अच्छा हुआ होता'। पंद्रह सौ वर्ष पूर्व यही स्थिति ग्रीस में आई। रोम

साम्राज्य के पतन काल में भी यही अराजकता की परिस्थिति देखने को मिलती है। भारत में भी कई बार ऐसी परिस्थितियाँ आईं। महाभारत काल में ही नैतिकता का कितना बड़ा ह्रास देखने में आता है। द्रौपदी के चीर-हरण को कोई भी रोकने में अपने को समर्थ नहीं पा रहा था, उसको रोक नही पाया था। उस काल की स्थिति का वर्णन करते हुये भगवान् वेदव्यास स्वयं कहते हैं कि 'भुजाओं को ऊँची करके लोगों को कहता हूँ, धर्म से ही वास्तविक काम-अर्थ की प्राप्ति हो सकती है। इसी धर्म का सेवन करो। परंतु कोई इस बात पर ध्यान देना ही नहीं चाहता!' आज भी लोग कहते हैं कि इस प्रकार से व्यवहार नहीं चलता, जीवन का क्रम इन नैतिकताओं पर आधारित नहीं हो सकता। आचार्य शंकर के समय में ठीक इसी प्रकार की परिस्थिति थी। वे लिखते हैं कि जैसा आजकल वर्णाश्रम-धर्म की मर्यादा का लोप हो रहा है, वैसा पहले कभी नहीं हुआ। आज भी हम लोगों को ठीक इसी प्रकार का अनुभव होता है। जहाँ कहीं भी औचित्य का, नैतिकता का विचार आता है, तुरन्त प्रतिक्रिया उठती है कि यह बात अच्छी थी, पर आज के युग में ये सब बातें नहीं चल सकतीं।

एक अंतर भी देखने में आता हैः मिस्र की संस्कृति नष्ट हो गई। इसी प्रकार यूनान की, ग्रीक संस्कृति नष्ट हो गई, इस परिस्थिति से बच नहीं पाई। रोम की संस्कृति भी नष्ट हो गई। पर भारत इन परिस्थितियों से निकलकर बच निकला है! वह कौन सी चीज है जिसके कारण भारत बच पाया? जब भी

ऐसी परिस्थितियाँ आईं, हमारे यहाँ ऐसे लोग जिन्होंने उस औचित्य का जो आधार है, उसकी तरफ लोगों का ध्यान दिलाया। संस्कृति के प्रवाह में अनेक प्रकार की बाह्य परिस्थितियाँ बदल जाती हैं। इन परिवर्तित परिस्थितियों के अंदर यदि हम उन्हीं परिस्थितियों के अनुसार समाधान करेंगे तो कार्यकारी नहीं हो पायेगा। मान लो कोई बहुत बड़ा वृक्ष है। यदि हम उसे बचाकर सदैव रखना चाहें तो कभी नहीं रख सकते। वृक्ष तो नष्ट होगा ही। उसको बचाने के लिये उसके बीज का संरक्षण करके, पुनः उस जाति के वृक्ष को उत्पन्न करना होगा। ऐसा नहीं सोचा जा सकता कि हम इतने बड़े वृक्ष को नहीं बचा सके तो छोटे से बीज को बचाकर क्या होगा? सामवेद की छान्दोग्योपनिषद् में कथा आती हैः गुरु शिष्य से कहता है 'वट-बीज को ले आओ'। वट-वृक्ष बहुत बड़ा होता है। वट वृक्ष के बीज बहुत छोटे होते हैं। गुरु ने शिष्य से पूछा 'इसमें क्या दीखता है।' उसने कहा 'कुछ नही दीखता।' गुरु ने कहा 'इसको तोड़ो और देखो।' पर इतना सूक्ष्म था कि क्या दीखना था! गुरु ने कहा 'जहाँ तुमको कुछ नहीं दीखता, उसी में सारा वट वृक्ष हैं, तुम श्रद्धा से देखो। यदि इसको अच्छी भूमि, खाद, जल से सींचा जायेगा तो पुनः वैसा ही वट वृक्ष खड़ा हो जायेगा।' दूसरी संस्कृतियों की भूल यही रही है कि उन्होंने वृक्ष को ही बचाने का प्रयत्न किया। उनमें यह सामर्थ्य नही थी कि मूल बीज को पहचान कर बचाने का प्रयत्न करते। अतः वृक्ष की रक्षा करते हुये वे संस्कृतियाँ नष्ट हो गईं। भारत में जब-जब ऐसा समय आया तब-तब हम लोग मूल की

तरफ गये। अन्य संस्कृतियों का दृष्टिकोण रहा कि किसी एक देश-काल की चीज को कैसे बचा कर रखा जाये। इसे अंग्रेजी में कहा Fundamentalism जिसका आशय होना चाहिये था कि किसी चीज का जो Fundamental है, मूल है, उसकी तरफ ध्यान जाये। पर मूल की तरफ ध्यान न रह कर बडे वृक्ष की तरफ रहता है - यही सारे संघर्षों का बीज है। जो एक देश-काल के लिये अच्छा था, वह अन्य देश-काल के लिये अनुपयुक्त *भी* हो सकता हैं अतः आधारभूत तत्त्व को देखना पड़ेगा।

इसके लिये हमारे यहाँ एक लाख मंत्रों का जो वेद है, उसके मूल भावों को समझने के लिये हमने महावाक्य निकाल कर रखे। चार वेदों में चार महावाक्य हैं। उन महावाक्यों के आधार पर ही बाकी सारी चीजों का निर्माण हो जाता है। रामायण-महाभारत काल में, बुद्ध या आचार्य शंकर के काल में, वर्तमान काल में अनेक प्रकार के बदलाव आने पर भी क्या चीज है जो बराबर बनी हुई है जिससे हम मानते हैं कि हम वही हैं जो याज्ञवल्क्य और वशिष्ठ के समय में थे, राम और कृष्ण के समय में थे? यह जो स्मृति है यही हमारे जीवन का लक्षण है। कोई व्यक्ति जी रहा है इसमें क्या प्रमाण है? व्यक्ति पहले दो फीट का फिर चार फीट का हो जाता है, उसके सारे अंग-प्रत्यंग बदल जाते हैं। क्या बचपन और वृद्धावस्था के उसी व्यक्ति में कोई भी समानता मिलती है? मन-शरीर-बुद्धि की शक्तियाँ बदल जाती हैं। तब किस कारण से कहते हो कि

वह वही व्यक्ति है? उसकी स्मृति, उसकी प्रत्यभिज्ञा है कि 'मैं वही हूँ'। इसी प्रकार मिस्र में संस्कृति नष्ट हो गई इसलिये नहीं कि सब लोग मर गये! आज भी उस मिस्र में रहनेवाले व्यक्ति हैं, प्राचीन खण्डहर हैं। इसी प्रकार यूनान में भी रोम में भी हैं। हमारे यहाँ भी लोग हैं, खण्डहर हैं फिर कैसे कहते हैं कि वहाँ संस्कृति नष्ट हो गई और यहाँ की जीवित है? आज मिस्र का रहनेवाला यह प्रत्यभिज्ञा नहीं करता कि 'मैं अपने पूर्वजों से एक हूँ'। वह अपने को अरब की संस्कृति के साथ मिला करके कहता है कि 'मैं उनसे एक हूँ।' इसी प्रकार यूनान में रहनेवाला यह नहीं कहता कि प्लूटो या सुक्रात से सम्बद्ध हूँ, वह कहता है कि 'मैं जैरुसलम या बेटलेहम से सम्बन्धित हूँ'। यह जो प्रत्यभिज्ञा नष्ट हो गई इसी से समझा जाता है कि वह संस्कृति जीवित नहीं रह गयी। हमारे यहाँ यह प्रत्यभिज्ञा आज भी जीवित है। याज्ञवल्क्य के, वशिष्ठ के वाक्यों को आज हम भी कहते हैं कि वही सत्य अनुभवानुसारी तथ्य है। अतः संस्कृति के स्थायित्व के संदर्भ में हम काल की नहीं, उस बीज की बात कर रहे हैं जो नित्य है।

महावाक्य किस बात को कहता है? आचार्य शंकर उसका संक्षेप में स्वरूप बतलाते हैं -

वेदान्तसिद्धान्तनिरुक्तिरेषा ब्रह्मैव जीवः सकलं जगच्च।
अखण्डरूपस्थितिरेव मोक्षो ब्रह्माऽद्वितीयं श्रुतयः प्रमाणम्।।

संक्षेप में हमारी सारी संस्कृति का निरूपण इस श्लोक में कर दिया। इस का जो आधार है उसी को वेदान्त कहते हैं। यही वेदान्त का सिद्धान्त है। वेदों के अन्तिम भाग में इसका परिचय मिलता है। जैसे वनस्पतिशास्त्र के अध्ययन में पहले हमें पत्ते, फल, डाली जड़, फूल आदि की पहचान बताई जायेगी और अंत में बीज का निरूपण होगा क्योंकि वह सबसे सूक्ष्म है, तभी बीज में सब कुछ का ज्ञान होगा। रूस में धर्म का बीज ही बचा था, पत्ते-फूल आदि उजाड़ दिये गये थे, पर क्योंकि बीज था इसलिये सत्तर वर्ष के बाद प्रतिकूलता हटने पर वह बीज तुरंत वहाँ कारगर हो गया। भारत में कुछ लोग प्रयत्नशील रहते हैं कि हम अपनी संस्कृति का प्राचीन इतिहास किसी प्रकार से भूल जायें। विदेशी शासन काल में इतिहास की पुस्तकों में हिन्दूकाल केवल पाँच पृष्ठों में समाप्त हो जाता था, बौद्ध काल सात पृष्ठों में और चार सौ पृष्ठों में मुस्लिमकाल तथा आठ सौ पृष्ठों में अंग्रेजों के काल का वर्णन आता था! यह प्रयत्न था कि हम किसी प्रकार से अपने बीज को भूल जायें। वे सफल नहीं हो पाये। पर उनकी जूठन खानेवाले आज भी इसी प्रयत्न में लगे हैं। यहाँ यदि अरब के लोग आये तो क्यों उन्होंने अपनी विचारधारा को परिवर्तित करना जरूरी समझा? क्योंकि हमारा वह बीज नष्ट नहीं हो पा रहा था। दीवालों की दरारों में भी वृक्ष के रूप में निकलना बताता है कि उस बीज की शक्ति कितनी है! परिवर्तन होते रहे हैं, पर उस बीज को पहचानना है। वेद के एक लाख मंत्रों के बाद उस

बीज को बतलाया ताकि हम विभिन्न परिवेषों को पहचान सकें और हमारी प्रत्यभिज्ञा नष्ट न होने पाये।

महावाक्य क्या है? बड़ी विचित्र बात है। मनुष्य चाहता है कि कोई उसकी जिम्मेदारी लेवे, वह अपनी सब कमजोरियों को किसी कूड़ेदान में डाल सके। सब मानना चाहते हैं कि संसार की जितनी खराबियाँ हैं उनका कारण कोई और है। मार्क्स कहता है कि खराबी का कारण आर्थिक परिस्थितियाँ हैं, मनुष्य की कोई गलती नहीं है। ऐसे लोग कहते हैं कि किसी ने इसलिये चोरी की कि उसके पास खाने को नहीं था। हम पूछते हैं, दो भाई थे और दोनों के पास ही खाने को नहीं था। एक ने ही क्यों चोरी की? कुछ विचारक कहते हैं, आर्थिक परिस्थितियों का मनुष्य दास है। कुछ अन्य विचारक कहते हैं कि बचपन में पड़ी ग्रन्थियों का दास है। कुछ कहते हैं कि अवचेतन मन का दास है। प्राचीन कुछ विचारक कहते थे कि प्रकृति का दास है। अन्य मानते रहे कि ऊपरवाले का दास है। हर कोई यह बतलाता रहा कि हमारे ऊपर कौन शासन करनेवाला है। पर वेदान्त सिद्धान्त कहता है 'ब्रह्मैव जीवः' तुम परम स्वतंत्र हो, तुम तो ब्रह्म हो। ब्रह्म ही जीव है, उसे कौन नियंत्रण करेगा। जो पूर्ण है वही तुम्हारे अंदर बैठा है। अतः तुम्हारे ऊपर नियामक बननेवाला कोई अन्य नहीं। तुम ही भूत का निर्माण करनेवाले, वर्तमान में व्यवहार करनेवाले, भविष्य का निर्माण करनेवाले हो। सारा कर्म-सिद्धान्त इस ब्रह्मैव जीवः के ऊपर ही आधारित है। आज हम वह हैं जो खुद हमने पहले

किया है। आगे हम वह बनेंगे जो हम इस समय कर रहे हैं। हमको कभी भी कोई किसी परिच्छिन्नता में नहीं बाँध सकता है, न वर्तमान में न भविष्य में। इस पूर्ण पुरुष से परे कुछ भी नहीं है। वही परमगति है। यह सुनते ही मनुष्य घबराता है। बच्चों को चलना सिखाने के लिये तीन पहियों की गाड़ी दे देते हैं। जब उस सहारे को हटाना चाहते हैं तब बच्चा उसे ही सहारा मान कर बार-बार पकड़ता है। तैरने के लिये भी रबड़ की ट्यूब का सहारा देते हैं। किन्तु उसके हटाने पर भी वह चलता या तैरता है क्योंकि अब तक वह चलना या तैरना सीख चुका है। ऐसे ही प्रारम्भ में थोड़ा सा सहारा मनुष्य को दिया जाता है पर सचमुच में तो अपना ही सहारा हैं। श्री नारद को सनत् कुमार उपदेश देते हैं कि कौन किस में प्रतिष्ठित है; वह पूर्ण पुरुष किस में प्रतिष्ठित हैं? उत्तर में कहा कि अपनी महिमा में प्रतिष्ठित है, अर्थात् किसी में प्रतिष्ठित नहीं है। क्योंकि जो अपने सहारे खड़ा है वह किसी के सहारे खड़ा है यह नहीं कहा जा सकता।

जीव-ब्रह्म का अभेद ऐसा अद्भुत रहस्य है जिससे हमारी सारी संस्कृति का बीज खुलता है। मनुष्य क्या है, इसका परिचय यहाँ दिया जाता है। तुमसे ऊपर कोई नहीं है, तुमने स्वयं अपने को बंधन में बाँधकर रखा है। उसको दूर करनेवाले भी तुम ही हो। ऐसा नहीं है कि तुम्हारी पूर्णता कहीं चली गयी है। इसलिये वेदान्त शास्त्र में दृष्टान्त दिया जाता हैः एक गर्भवती शेरनी शिकार के लिये हरिणों के झुण्ड पर उछली।

झटके से बच्चा तो हो गया पर वह स्वयं मर गई। अब बच्चा हरिणों के मध्य पलने लगा उनकी तरह दूध पीने लगा और घास भी खाने लगा। उस वातावरण में अपने को हिरणों के समान समझने लगा और व्यवहार करने लगा। एक बार एक बड़े शेर ने उसको पकड़ लिया। डरकर वह कहने लगा 'तुम मुझे खा जाओगे'। उसने कहा 'नहीं, तुम तो मेरी ही जाति के हो।' अपनी जातिवाले को केवल मनुष्य खाते हैं! कपट करते हैं - यह मनुष्य की ही विशेषता है। शेर ने उसको उसका चेहरा नदी के जल में दिखाया और माँस खिलाया तो उसको स्मृति आईं, समझ गया कि 'मैं तो शेर हूँ'। इसी प्रकार हम शरीर, प्राण, मन, इन्द्रियाँ, बुद्धि के बीच में बड़े होकर समझ रहे हैं कि हम भी कोई अनात्मा हैं, इन्हीं की जाति के होंगे। लोग कहते हैं कि मन कुछ नहीं है। कम्प्यूटर तुम्हारे दिमाग का काम करने लग जायेगा। पर हमारी यह विशेषता है कि हम श्रेय और प्रेय में से चुन सकते हैं। वर्तमान का सारा वैज्ञानिक जगत् हमको अनात्मा ही बताता है। हम बीमार हैं, चिकित्सक अनेकों परीक्षण मशीनों से हृदय, खून, पेशाब आदि के करता है, तब कहता है 'तुम्हें कोई रोग नहीं है, क्योंकि परीक्षण में आया नहीं है।' उसे अपनी बात का विश्वास नहीं है कि मैं क्या कह रहा हूँ; यंत्र को ठीक समझता है। प्रयत्न चल रहा है कि कैसे हम इस पूर्ण पुरुष को प्रतिबद्ध कर सकें, एक विषयमात्र बनाकर रख सकें। विषयी को विषयों से अलग करके समझ नहीं पाते। इस परिस्थिति में जो अपने आप को जानता है (जैसे

शेर) वह देखता है कि तुम्हारे अंदर तो वह पूर्ण शक्ति विद्यमान है। तुम शरीर मन के गिड़गिड़ाने से, गिड़गिड़ाने लगते हो। शेर के बच्चे की तरह घास चर रहे हो। तुम पूर्ण हो, सारे जगत् के अधिपति हो। थोड़े से विषय भोग मिल गये तो समझते हो बहुत मिल गया। जब उससे कहते हैं कि तू तो ब्रह्म है, तो कहता है 'मैं तो दुखी-सुखी, रोगी, भूखा-प्यासा हूँ। मैं कहाँ ब्रह्म हूँ।' उसको पकड़कर जब लक्षणों को हटाकर बतलाते हैं तब धीरे-धीरे उसे विश्वास होता है। अंत में जब निर्विकल्प समाधि में परमानंद को प्राप्त करता है तब गरजता है। याद रखना, वह शेर कभी भी हिरण बना नहीं था। इसी प्रकार से तुम ब्रह्मभाव से अलग हुये नहीं हो। केवल तुमको अपनी पहचान नहीं है। पहचान किस प्रकार लक्षणों को मिलाकर की जाये यह आगे बतलायेंगे।

प्रवचन - २

कल वेदान्त का विचार करते हुये बताया कि वास्तविकता क्या है इसको जानना बड़ा जरूरी है। पूर्ण होते हुये ही हमने अपने आप को समझ लिया है अपूर्ण। हमारी वास्तविकता है स्वतंत्रता, हमने अपने आपको समझ लिया है परतंत्र। हमने अपने आपको समझ लिया है सीमा में बँधा हुआ। जब तक समझ ठीक नहीं होगी तब तक जीवन में रस नहीं आ सकता। जो परतंत्र, परिच्छिन्न होता है वह अपनी परतंत्रता से सीमाओं से निरंतर संघर्ष करता रहता है। और संघर्ष का जीवन सुख नहीं दे सकता। जो जीवन आनंदमय होना चाहिये था, वह विपरीत हो गया। भारतीय धर्मों की यह विशेषता रही है कि हमने धर्म को मान लेने के लिये स्वीकार नहीं किया। किसी ऐतिहासिक घटना, व्यक्ति में विश्वास करना, किसी देवता-विशेष में विश्वास करना - इसको हमने कभी भी धर्म का *प्रधान* अंग नहीं समझा। न इसकी प्रधानता है कि हम पूजा-पाठ, कर्म-काण्ड आदि किस तरह से कर लेते हैं। यह ठीक है कि हमारे धर्म में इतिहास, पुराण, कर्म-काण्ड भी है। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' याज्ञवल्क्य ने स्पष्ट निर्देश कर दिया कि धर्म का उद्देश्य है परमात्मा का साक्षात्कार। यदि हमने सारे कर्मकाण्ड, पुराणों आदि का अध्ययन कर लिया, लेकिन परमात्मदर्शन, साक्षात्कार नहीं किया

तो भारतीय दृष्टि से सब व्यर्थ हो जाता है। जैसे आग के शान्त हो जाने पर भस्म में जो आहुति डाली जाती है वह व्यर्थ हो जाती है, इसी प्रकार से जीवन में जब हमारा ज्ञान दीप्तिमान है, जब परमात्मा की मानों लपटें प्रतिक्षण हमारे अंदर निकल रही हैं, तब तो हमारा नैतिक जीवन और पुराणादि का अध्ययन भी सफल है। लेकिन यदि साक्षात्कार नहीं हुआ तो सब व्यर्थ हो जायेगा। आत्मदर्शन पर वेदों में जोर दिया गया है तथा सभी धर्माचार्यों ने जीवन में इसी साक्षात्कार को किया। भारत में कभी उसे स्वीकार नहीं किया गया जिसने स्वतः ही साक्षात्कार न किया हो। मार्गदर्शक वह होवे जो धर्मनिष्ठ होवे, जिसने परमात्मा का साक्षात्कार किया हो - यह वेदव्यास कहते हैं। भगवान् ने भी गीता में कहा है कि यदि तुमने उसको परोक्षरूप से जाना है तो तुम उपदेश देने के अधिकारी नहीं बन जाते "उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः" जब तक तत्त्वदर्शी न हो, उस तत्त्व का साक्षात्कार न किया हो तब तक उपदेशक न बनो।

तत्त्व क्या है? आत्मा; जीव, ईश्वर, ब्रह्म - इनकी एकता; जहाँ हमें पहुँचना है। हम अपने को भी नहीं जान पाते कि हम हैं क्या? किसी से पूछो तो सिवाय शरीर के और किसी का परिचय नही दे सकता। यदि तुम देवदत्त हो तो नामकरण के दिन से पूर्व तुम

क्या थे? कोई किसी का परिचय कराता है तो बताता है कि 'यह पुलिस में आई जी है।' पर आई जी वह इससे पहले या अवकाशप्राप्ति के बाद नहीं होगा! कोई भी ऐसा परिचय उस *व्यक्ति* का होता नहीं है। जब अपने स्वरूप को ही नहीं जान रहे हो तो फिर इस सृष्टि के नियामक के स्वरूप को जानोगे कहाँ से? पर गाँव में भी पूछो तो सुनोगे कि आत्मा-परमात्मा एक है। पर इसका तात्पर्य क्या? शब्द का प्रयोग करने पर भी अर्थ का भान नहीं है। इसी को अज्ञान या अविद्या कहा गया है। इसलिये आचार्य सुरेश्वर लिखते हैं कि मैं ही परब्रह्म हूँ - इसी अर्थ के बारे में अप्रबुद्धता को हम अविद्या कहते हैं। चीज के सामने होने पर भी उसे समझने की असमर्थता को अविद्या कहा गया है। जब तक यह अनुभूति में नहीं आ जाता कि मैं ही सब प्राणियों में हूँ, सारे प्राणी मुझमें हैं, तब तक तत्त्व का साक्षात्कार हुआ नहीं समझा जा सकता है। लोग कह तो देते हैं, पर क्या सब के अंदर नारायण दीखता है? वेद ने यह नहीं कहा कि 'जानता है' वरन् कहा कि 'अनुपश्यति', देखता है। भारत में यह कहा जाता है कि 'हमारे यहाँ लोगों के भाषा, भोजन, वस्त्रों के तरीकों का भेद है, भेद होने पर भी हमारे अंदर एकता है'। विभिन्नता तो दीख रहीं है, पर क्या वह एकता दीख रही है? वह कौन सी एकता, अद्वयता है जिसे कहते हो भारत में एकता है? ऐसे ही सब प्राणियों में भी सर्वत्र

अद्वयता है पर क्या वह एकता प्रत्यक्ष अनुभव में आ रही है, क्या उसे देख रहे हो? कहाँ देखोगे, सबको अपने अंदर देखोगे। उसका नतीजा होगा 'न ततो विजुगुप्सते' तुमको किसी चीज को छिपाने की इच्छा नहीं रह जायेगी, किसी भी चीज से दूर हटना नहीं चाहोगे। विजुगुप्सा अर्थात् छिपाने की इच्छा। हम अपने को उससे भी छिपाना चाहते है जो चीज हमें प्रिय नहीं होती है। जब सब प्राणियों को अपने में देखेंगे तब हमारा व्यवहार कैसा होगा? किसी भी चीज से हटने की प्रवृत्ति नहीं रह जायेगी। यह एक अनुभूति है। इसे ऊपर से ओढने का प्रयास निष्फल है। इसलिये वेद ने संकेत दे दिया 'आत्मनि एव अनुपश्यति' अर्थात् प्राणियों को अंदर देखता है।

जिस चीज को तुम अंदर देखते हो, उसे बाहर करने का प्रयत्न नहीं करते। जैसे ही तुम अपने आप को बाह्य, विषयभूत करने का प्रयत्न करते हो, वैसे ही तुम्हारी वास्तविकता छिप जाती है। वास्तविकता अंदर है और तुम उसको बाहर लाना चाहते हो। सारी साधनाओं का केन्द्र हमारे यहाँ इसलिये अंदर की तरफ है। शास्त्रकार कहते हैं - 'अन्तर्निष्ठो भवेद् योगी, अन्तर्निष्ठः सदा सुखी।' योगी अन्तर्निष्ठ होवे। योगी अर्थात् जो समाधि को प्राप्त करना चाहता है। समाधि को ही योग कहा जाता है। समाधि का आशय किसी

चीज से हटना नहीं है। हमारे यहाँ आधि एवं व्याधि दो शब्द हैं। आधि मायने मन में होनेवाले विकार, जब वे स्थूल होकर शरीर में प्रकट होते हैं तब उन्हें व्याधि कहा जाता है। समाधि का आशय है कि आधि के स्तर पर ही हम उनका समाधान कर लें, उन्हें समाप्त कर लें ताकि वह व्याधि के रूप में विकसित न हों। जब वह व्याधि बन जाती है तब दूसरे के लिये वह विषय हो जाती है। हमारे जीवन का ऐसा कोई क्रम न होवे जो किसी दूसरे में उद्वेग पैदा करे। और किसी दूसरी चीज से हमारे में भी उद्वेग पैदा न होवे। यदि हमारे किसी कारण से किसी में उद्वेग पैदा हो रहा है तो हमको विचार करना पड़ेगा कि हमने कहाँ भूल की। वशिष्ठजी प्रधान साधनाओं को बतलाने के बाद कहते हैं 'आर्यता हृद्यता मैत्री' हर क्षण याद रखना है कि हमारे कार्य श्रेष्ठ हों। आर्य का मतलब जातिविशेष से नहीं पर जिसके पास लोग जावें उसे आर्य कहते हैं। हमारा देश आर्य था क्योंकि यहाँ लोग शिक्षा लेने को आया करते थे। मनु कहते हैं कि सारे संसार के लोग आर्य के चरित्र से शिक्षा लेते हैं - 'स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः'। नैतिकता, चरित्र की शिक्षा किताबों में नहीं मिलती, आदेश देने से नहीं मिलती, वह तो तुम्हारे आचरण के अनुकूल ही होगी। आज हम सोचते हैं कि चरित्र का उपदेश दिया जाये, व्यवहार की जरूरत नहीं। यह आर्य देश इसलिये नहीं था कि यहाँ

कोई जातिविशेष रहती थी, बल्कि चरित्र-विशेष का क्षेत्र था। तुम्हारा आचरण आर्य होना चाहिये ताकि सब लोग तुम्हारी तरफ आकर्षित हों। तुम्हारा आचरण ऐसा होना चाहिये कि सामनेवाले को वह प्रिय लगे। देखा गया है कि जो व्यक्ति किसी अच्छे कार्य को करता है, वह दूसरे पर उस कार्य को इस प्रकार थोपना चाहता है कि दूसरे के लिये वह अच्छाई समस्या हो जाती है! उसके अंदर निष्ठुरता आ जाती है और अभिमान इस बात का करेगा कि 'मैं तुमको ठीक मार्ग पर ला रहा हूँ।' आर्यता ही नहीं, मैत्री मित्रता का भाव भी होवे। मैत्री में तुम साथवाले को अपने जैसा समझते हो। उसको आदेश देना नहीं चाहते हो। उसके सामने केवल वास्तविकता मात्र प्रकट कर देना चाहते हो, यह मित्रता का आधार हैं। जिस व्यक्ति के अंदर सदैव मित्रता का भाव रहता है, वह दूसरे पर अपना विचार थोपना नहीं चाहेगा। थोपे आचार से कोई धार्मिक नहीं हो जायेगा, तुम बिना धार्मिक हुये भी आदेशों का पालन कर सकते हो। जब औचित्य का निर्णय करके तुम करोगे, तभी तुम धार्मिक हो। हमारे कहने से काम करने पर *तुम* धार्मिक नहीं बनोगे, आज्ञाकारी हो सकते हो। औचित्य से दूर करनेवाली चीज सदैव हमारे अंदर रहती है, वह है कामना। इस मार्ग पर चलने के लिये कामना के त्याग की तैयारी होनी चाहिये।

कथा हैः दध्यङ्ङाथर्वण के पास एक बार इन्द्र आया। इन्द्र ने सुना था कि आत्मज्ञान होने से मनुष्य अमर हो जाता है। उसने सोचा कि यदि यह हो जाये तो मैं सदैव देवताओं का राजा बना रहूँगा! उनसे उसने कहा 'मैं उस परमात्म-तत्त्व का दर्शन करना चाहता हूँ।' ऋषि समझ गये कि यह परमात्मा को केवल अपनी अमरता के लिये चाह रहा है। कामना होने से कभी परमात्म-दर्शन नहीं होगा यद्यपि साधना तो व्यर्थ नहीं जायेगी। तुम्हारे समान ही यह सारा का सारा संसार ब्रह्मरूप है। जिस पदार्थ की कामना तुम कर रहे हो, परमेश्वर उस का ही रूप लेकर तुम्हारे सामने आ जायेगा। अपना स्वरूप दिखाने की आवश्यकता *उसे* नहीं है। जब हमें कुछ नहीं चाहिये, केवल परमात्मा ही चाहिये, तब *उसकी* प्राप्ति होगी। अतः ऋषि ने सोचा कि इन्द्र को दिया गया परमात्म-उपदेश तब तक सफल नही हो सकता जब तक यह अमरता की कामना नष्ट नहीं कर लेता। मनुष्य को योग्यता के अनुसार ही उपदेश देना पड़ता है। यह नियम है कि 'वक्तुर्हि दूषणं तत्र यत्र श्रोता न बुद्ध्यते'। सुननेवाला यदि ज्ञान को ठीक से प्राप्त नहीं कर पाता, तो दोष बोलनेवाले का है! क्योंकि उसमें समझाने की योग्यता नहीं है। ऋषि ने विचार किया कि इन्द्र को गर्व अपने इन्द्रपद का है। उन्होंने समझाया कि इन्द्रपद के भोगों की स्थिति कितनी हीन है। इन्द्र को

उससे अपना अपमान लगा। उसको क्रोध आया। सिर काटने का भय दिखाकर इन्द्र चला गया। कुछ समय बाद ऋषि के पास अश्वनीकुमार आये। अश्वनीकुमारों को ऋषि ने पहले कोई साधना पूर्ण करने को कहा था जिसको उन्होंने पूर्ण कर लिया था। अतः उन्होंने कहा ' अब आप परमात्म-तत्त्व का उपदेश करें।' ऋषि ने कहा 'इन्द्र सिर काटने का प्रण ले चुका है इसलिये मेरा उपदेश पूरा नहीं हो पायेगा।' अश्वनीकुमारों ने कहा 'हम पहले ही आपके सिर के स्थान पर दूसरा, घोड़े का सिर लगा देंगे। बाद में पुनः आपका सिर स्थापित कर देंगे।' आत्मज्ञान तभी पूर्ण होता है जब सत्य की रक्षा प्राण-रक्षा से भी अधिक प्रयत्नपूर्वक की जाये। इसलिये अथर्ववेद की उपनिषद् कहती है 'सत्येन लभ्यः तपसा ह्येष आत्मा'। यह आत्मा तभी मिल सकता है जब हम अपने जीवन को सत्य के प्रति अर्पित करें। सामवेद कहता है 'सत्यम् आयतनम्' सत्य ही वह मकान है जिसमें आत्मज्ञान रह सकता है। ऋषि ने वैसा ही किया एवं इन्द्र द्वारा घोड़े के प्रत्यारोपित सिर को काटने पर अश्वनीकुमारों ने पुनः ऋषि का सिर लगा दिया एवं बाकी उपदेश लिया। जो निष्ठावाला होता है वह अपने अंदर सब प्राणियों को देख सकता है, इस अनुभूति को प्राप्त कर सकता है।

यह तभी हो सकता है जब मन असत्य विषयों की कामना का परित्याग करे। शिवपुराण में वर्णन है कि देवता लोग चाहते थे कि शिव पार्वती पर मोहित होकर कार्तिक स्वामी को उत्पन्न करें ताकि तारकासुर मारा जा सके। इन्द्र ने कामदेव से कहा 'शंकर में जाकर कामना उत्पन्न करो। परमेश्वर कामनाओं का शत्रु है। यदि तुम उनमें कामना उत्पन्न करो तो हम तुम्हारी मदद करेंगे।' काम एक बार पूर्व में भी शिव के कारण परास्त हो चुका था अतः शिव से द्वेष था, उन्हें हराना चाहता था। पार्वती ने स्वयं उसे शाप दे दिया था : 'तू शिव को हराने की सोचकर स्वयं भस्म होने जा रहा है।' पर इन्द्र के कहने से वह तत्पर हुआ। कामना की सब सामग्री वहाँ उपलब्ध थी। भगवान् शंकर की अभी समाधि पूर्णतः खुली नहीं थी, आँखें खोली ही थीं। पार्वती के रूप को देखकर कामभाव उठा तो सोचने लगे 'यह भाव आया कहाँ से, कैसे?' तीसरे नेत्र से देखा कि कामदेव उपस्थित है, आक्रमण कर रहा है। पर शंकर के तीसरा नेत्र खोलते ही कामदेव भस्म हो गया। अतः परमेश्वर का और कामना का यह नित्य विरोध है।

कथा का आशय है कि जीव का मतलब है, जो दृढ निश्चयी हो, जिसमें वीरता है। गीता में भगवान् ने कहा है 'काम एषः क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः'।

तुम्हारा शत्रु बाहर नहीं है। तुम्हारे अंदर बैठे काम-क्रोध ही तुम्हारे शत्रु हैं। अतः वीरवृत्ति कहता है कि 'मैं कामनापूर्ति के लिये प्रयत्नशील नहीं होऊँगा'। व्रत से वह कामना को खत्म करता है। परमात्मा को ही जब हम कामना का विषय बनाते हैं, तब परमात्मा उस कामना को ही समाप्त कर देता है। परमात्मा तो नित्य प्राप्त है, उनकी प्राप्ति की कामना बनती ही नहीं। वे तो तुम्हारा स्वरूप हैं। यह जो अनुभूति है इसको प्राप्त करने का जो साधन है उस पर आगे विचार करेंगे।

प्रवचन - ३

वेदान्त के विषय में विचार करते हुये, सबसे पहले जीव के स्वरूप का विचार किया। जीव का स्वरूप बतलाते हुये कहा, ब्रह्म ही जीव है। जीव को परमेश्वर अज्ञात है। अर्थात् वह अज्ञान का आश्रय है। जीव का स्वरूप वह है जो जानता नहीं कि मेरी वास्तविकता क्या है। अज्ञान का आश्रय अर्थात् जो अज्ञानवाला है। अज्ञान के आश्रयवाला जीव कब अपने स्वरूप को जान सकता है? जब वह कामना को समाप्त करने के लिये पुरुषार्थ को तैयार होता है। भगवान् से प्राप्त त्रिशूल से ही कामना समाप्त हो सकती है। वह त्रिशूल क्या है जो कामना को समाप्त कर सकता है? तीन चीजें यदि स्पष्ट हो जायें तो हम कामना को समाप्त करने में समर्थ हो जायेंगे। पहली है - यदि पृथ्वी-पाताल-स्वर्ग तीनों लोकों का राज्य हमको मिल जाये, तब भी हमें किसी प्रकार का हर्ष न हो। हमको यह प्रतीति भी न हो कि हमें कुछ मिला है। तब तक ऐसी वृत्ति बनती नहीं है जब तक हमने राग को जीता नहीं है। दूसरा - हमारे पास तीनों लोकों का राज्य और सारी सिद्धियाँ भी हों, और सारा निकल भी जाये, तो हमारे में कोई शोक की भावना न आवे। यह है द्वेष पर विजय करना। जो प्राप्त हुआ है वह अवश्य निकल जायेगा। उसके बारे में सोचना ही द्वेष का बीज है।

तीनों लोकों का राज्य मिलने पर भी हर्ष न हो और द्वेष की निवृत्ति का स्वरूप हुआ कि सारी सिद्धियाँ एवं सम्पूर्ण राज्य के निकल जाने पर किसी शोक का अनुभव न होवे। तीसरी चीज - जो मनुष्य को बन्धन में डालती है, जो काम का ही प्रकार है, वह है मोह। कोई हमारी प्रशंसा या निन्दा करता है, उससे न प्रसन्नता और न उद्वेग मन में होना चाहिये। निन्दा शरीर की की जाती है। हमारे स्वरूप की न कोई स्तुति या न निन्दा कर सकता हैं हम जैसे हैं वैसे ही रह सकते हैं। स्तुति गुणों की की जाती है, निन्दा की जाती है कि 'आप में वह गुण नहीं है।' गुणों का आना-जाना महत्त्व नहीं रखता, मैं जैसा हूँ वैसा ही हूँ। इस प्रकार, राग, द्वेष, मोह - इन तीनों को जो वश में कर सके, वही त्रिशूल से कामना को समाप्त कर सकेगा।

त्रिशूल को फैंकने के लिये दण्डा कौन-सा है? उसको समझने के लिये संसार का स्वरूप बतलाया। 'सकलं जगच्च'। केवल जीव ही नहीं, यह सारा जगत् ही ब्रह्म है। जैसे अपने अंदर का ब्रह्म अज्ञात है, वैसे ही सारा जगत् ब्रह्मरूप होने पर भी, हमको यह अज्ञात है। पर यह अज्ञान का विषय है; जीव अज्ञात ब्रह्म है आश्रय रूप से, अर्थात् जीव को अपनी ब्रह्मरूपता का ज्ञान नहीं। जगत् अज्ञात ब्रह्म है विषयरूप से, अर्थात् जगत् को हम ब्रह्मरूप से नहीं जानते। अज्ञान का

विषय तो ब्रह्म है। वेदान्त की मर्यादा है, ''अश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला ' जो निर्विभाग चैतन्य है, वही अज्ञान का आश्रय और विषय भी है। आश्रय अर्थात् जिसको ढाँके। त्रिशूल चलानेवाले हम आश्रय हैं, जिसके ऊपर चला रहे हैं वह विषय हुआ। प्रायः आश्रय और विषय अलग होते हैं पर यहाँ कहा जा रहा है कि वह परमात्मा आश्रय भी है। आचार्य शंकर ने इसका दृष्टान्त दिया है – जैसे पानी पर काई आ जाती है; वह काई भी पानी के सहारे से रह रही है, जल ही उसका आश्रय है; और उसी पानी को वह ढाँक रही है। अर्थात् काई का आश्रय भी पानी और विषय भी पानी ही है। इसी प्रकार जो चैतन्य है, अज्ञान का आश्रय भी वही और विषय भी वही है। अज्ञात ब्रह्म ही आश्रय और विषय भी है। जिस प्रकार से जीव की ब्रह्मरूपता से तुम्हारी स्वतंत्रता का उन्मेष है, उसी प्रकार जगत् की ब्रह्मरूपता समझने से तुम्हारे हृदय के अंदर इस सारे जगत् के प्रति एक विचित्र विचार होता है। अब तक संसार के पदार्थों को हम अपने से भिन्न जानते रहे हैं। उनमें से कुछ चीजों को अपने से सम्बद्ध बनाकर उनमें हम अपनी ममता कर लेते हैं। बाकी सब अन्य चीजें हमारी निर्ममता के व्यवहार का विषय बन जाती हैं। क्योंकि उनसे हमारा सम्बन्ध नहीं है। यदि सारा जगत् हम से, सामान्य

नहीं, अभिन्न सम्बन्धवाला है तो सारे जगत् के प्रति हमारी दृष्टि बदल जाती है।

आजकल वातावरण-सुधार पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। इसके लिये एक मंत्रालय भी अलग है। इस के लिये विदेशी विचार हमारे यहाँ आ गये हैं। हमारे यहाँ गाँव का व्यक्ति भी शाम के बाद वृक्ष का पत्ता नहीं तोड़ता, क्योंकि रात्रि में वह सूर्य से शक्ति संचय नहीं कर रहा। हरे पेड़ को काटना भी हम पाप समझते हैं। नागपंचमी के दिन हम लोग सर्प को दूध भी पिलाते हैं। जिसे लोग हानिकारक मानते हैं, वातावरण में उस सब की उपयोगिता है, यह हम जानते हैं। समाज की हमारी रचना ऐसी है कि सब एक-दूसरे के उपकारी हैं। हमारे यहाँ वातावरण-शुद्धि की बात कैसे आई? विदेशी विचारधारा आई कि हमें तो फैक्टरी-उद्योग लगाने हैं, व वनों का, पेड़ों का प्रयोजन ही क्या है? काटना है। हमारा सारा जीवन ही वातावरण-सुरक्षा पर आधारित था। हाथ धोने के लिये हम मिट्टी का प्रयोग करते थे। खाने के लिये बर्तन के रूप में हम पत्तों का प्रयोग करते थे। बाद में उसी से खाद बन जाती थी, वृक्ष के लिये उपयोगी हो जाती थी। पानी के लिये मिट्टी का बर्तन प्रयोग करते थे। सारा संसार ही ब्रह्मरूप है - इस विचारधारा पर ऋषियों ने वातावरण का निर्माण किया। सारा जगत् ब्रह्म ही है,

अज्ञात ब्रह्म है; मैं नही जानता हूँ, पर वस्तुतः मैं वह खुद हूँ। इस दृष्टि से इस संस्कृति का निमार्ण हुआ। अतः कभी भी हमें संसार की हानि का कोई विचार नहीं आया। बाकी सब जब वातावरण की बात करते हैं तो मनुष्य ही उनका आधार है, सारा जगत् नहीं। मनुष्य को क्या लाभ होगा - यही उनके विचार का आधार है। आगे कभी शायद उनकी समझ में आयेगा कि यह विश्व केवल मनुष्य के लिये ही नहीं है। पुराने लोग बाढ़ आने पर दुखी नहीं होते थे, क्योंकि नवीन मिट्टी के आने से खेती अच्छी होती थी। परमात्मा सारी सृष्टि का अधिपति है, रक्षक है। यह ठीक है कि कभी स्थिति तुम्हारे लिये लाभप्रद है, अन्य के लिये नहीं। जब अन्य के लिये है, तब तुम्हारे लिये नहीं, पर वह तो सब का ईश्वर है! गत महायुद्ध के पश्चात् विचारधारा चली कि काले रंग के व्यक्ति निकृष्ट हैं, पीले रंग के कुछ अच्छे हैं एवं सर्वोत्तम सफेद रंग के व्यक्ति हैं। एक विचारधारा है कि परमेश्वर पुरुष है, अतः स्त्रियाँ मनुष्य जाति में नहीं गिनी जा सकतीं। पर हमारे यहाँ राम के साथ सीता, शिव के साथ पार्वती है, विष्णु के साथ लक्ष्मी है। लेकिन गोड और अल्लाह के साथ ऐसा नहीं है। हमारे यहाँ कहा जाता है कि संसार में सभी प्राणी ब्रह्म स्वरूप ही हैं, अतः सब का कल्याण सोचना है। ''सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः''। 'सर्वे' की जगह वहाँ 'मनुष्य' शब्द का प्रयोग नहीं है!

प्राणिमात्र पर हम लोगों की दृष्टि है, इसी से प्रेम की भूमिका है। प्रेम और काम में आधारभूत भेद है। कामना की जाती है उसकी, जो हमसे भिन्न है। अलग चीज की कामना होती है। पर मेरे से जो अभिन्न है, उससे प्रेम होता है। व्यवहार में जहाँ भी तुम अपनापना लाते हो वहीं प्रेम होता है, जहाँ अपनापना नहीं, वहीं कामना होती है। पुत्र में आत्मभाव है अतः पुत्र के साथ प्रेम है। पुत्र यदि बीमार हो जाता है तो हटाने की नहीं, रुपया खर्च करने की सोचते हो। जहाँ आत्मिक भावना होगी वहाँ प्रेम होगा। जो चीज अपने से भिन्न लगेगी उसकी कामना होगी। इसलिये उपनिषद् कहती है कि जिसने आत्मा को प्रेम का विषय बना लिया उसने सारी कामनाओं को जीत लिया। जब समझ लिया जाता है कि 'ब्रह्मैव जीवः सकलं जगच्च' तब संसार में सबके प्रति प्रेम भरा रहता है, कामना नहीं। प्रेम सहज है, कामना में प्राप्ति की दृष्टि है।

अज्ञात ब्रह्म से निकलने का क्या कोई उपाय है? वेद कहता है कि वह ब्रह्म स्वयं ही सारे संसार का निर्माण करके, स्वयं ही इसमें प्रवेश करता है। प्रवेश करने से पहले 'मैं इसमें जाकर रास्ता भूल न जाऊँ', इसकी व्यवस्था जरूर बनाई। सामान्य व्यक्ति भी अज्ञात स्थान पर जाने पर वहाँ से निकलने का पहले प्रबन्ध करके जाता है। ब्रह्म की कौन-सी व्यवस्था है,

जिससे वह बाहर निकलेगा? शास्त्रकार कहते हैं कि विचार ही वह व्यवस्था है। अविचार से यह लगता है कि इन्द्रियों के द्वारा जिस को हम देख रहे हैं बस, वही संसार है। प्रत्यक्ष ज्ञान को ही सब कुछ समझते हैं। पर विचार से पता लगता है कि अनेक ज्ञान ऐसे हैं, जिनका इन्द्रियों से कोई सम्बन्ध नहीं है। इन्द्रियों से जो ज्ञात होता है उसका कोई निश्चय भी नहीं है। यहाँ से सूर्य-चन्द्रमा हमें एक बित्ते के दिखाई देते हैं, पर हम जानते हैं कि वे हजारों योजन के हैं। अतः इन्द्रियाँ सदैव सही नहीं बतलाती अन्यथा सूर्य-चन्द्र को छोटा ही मानना पड़ेगा! चीज की दूरी से उसके परिमाण का निश्चय होता है। हमारी इन्द्रियों की शक्तियाँ भी सीमित हैं। दही देखने से सुन्दर, खाने योग्य लगता हैं पर खुर्दबीन से देखने पर उसमें हजारों कीड़े दिखाई देंगे। ठोस दीवाल को सूक्ष्मता से देखने पर पोली ही मिलेगी। विज्ञान कहता है कि पृथ्वी का जो ठोस पदार्थ है, उसे घनीभूत कर दिया जाये तो वह एक क्रिकेट की गेंद के बराबर ही है! यह विश्वास-योग्य नहीं लगता क्योंकि हमारी इन्द्रियाँ हमें 'यह ठोस विस्तृत है' ऐसा ज्ञान दे रही हैं। अतः प्रत्यक्ष की गति अत्यन्त सीमित है। यह सारा जगत् विचार से ब्रह्मरूप ही सिद्ध होता है। विचार से ही संसार की वास्तविकता का पता चलता है। इसलिये आचार्य शंकर कहते हैं -

'वदन्तु शास्त्राणि यजन्तु देवान्,
कुर्वन्तु कर्माणि भजन्तु देवताः।
आत्मैक्यबोधेन विना विमुक्तिः,
न सिद्ध्यति ब्रह्मशतान्तरेऽपि।।'

बाह्य जगत् के साथ क्रिया काण्ड दो प्रकार का होता है। दो दृष्टियों से जगत् से व्यवहार होता है। एक है, जगत् को विजय करने की इच्छा। दूसरी है जगत् से भय हटाकर दूर होने की प्रवृत्ति। त्रिशूल का स्वरूप बतलाया था - राग, द्वेष और मोह। मोह मनुष्य को विचार नहीं करने देता। कोई-कोई साधना करते हैं तो मोह को छोड़ द्वेष कर लेते हैं कि संसार दुःखालय है अतः हिमालय की कन्दराओं में जाओ, या समाधि में जाओ। यहाँ से जाने से ही शान्ति मिलेगी। यह संसार तो दुःखरूप है। यह द्वेष की विचारधारा है। दूसरी राग की विचारधारा हैः प्रकृति पर हम नियंत्रण करेंगे, इसके अधिपति बनेंगे। सारा का सारा आधुनिक विचार है कि हम इस पर जय करेंगे। इसको प्रेयमार्ग कहा जाता है। विधि भिन्न हो सकती है। यज्ञ और योगाभ्यास द्वारा भी हम संसार पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। एक दृष्टि है कि हम कैसे विजय प्राप्त करें, दूसरी दृष्टि है कि इससे कैसे दूर होवें। आचार्य शंकर कहते हैं कि जैसे मोह बन्धन का कारण है वैस द्वेष भी बन्धन का कारण है और राग भी बन्धन

का कारण है। यह तो अज्ञात ब्रह्म है, विचार से इसको जानो। ज्ञातब्रह्म ही तुमको इससे मुक्त कर सकता है, अज्ञात ब्रह्म के कारण ही बन्धन है। अतः न इससे दूर हटना है, न इसे जय करने का प्रयत्न करना है।

ज्ञान के मार्ग में विलक्षण स्थिति आती है। विचार करने से पहले तो लगता है कि वह आनंद परमात्मा, सुख, ब्रह्म कहाँ छिपा है? चाहते हैं कि उसके पदचिह्न पकड़ लेते। पर जब परमात्मज्ञानी के ही पदचिह्न नहीं मिलते तब परमात्मा के कहाँ मिलने हैं! पक्षी आकाश में उड़ता है तो उसके और मछली के जल में पदचिह्न नहीं मिलते। ज्ञानी के भी पदचिह्न नहीं मिलते तो ब्रह्म का पदचिह्न क्या पता लगना है! पर विचार करने से पता लगता है कि उसके पदचिह्न तो सर्वत्र हैं। हर चीज हम को ब्रह्म का पता बतला देती है। जिधर देखते हैं उधर परमात्मा ही परमात्मा है। सब विचारशक्ति वाला तो वह ब्रह्म ही है। इन्द्रियों की प्रवृत्ति को करने वाला, क्रिया को करने वाला वही है। अब तक सब द्वार बंद थे, विचार करते ही अनन्त द्वार खुल जाते हैं। परमात्मा को प्राप्त करने के लिये खुले द्वार मार्ग हैं, कहीं से भी प्रवेश करो। कण-कण में वह व्याप्त है। जहाँ अनेकता है वहाँ एकता रूप से वही छिपा है। वह परमात्मा सर्वत्र पूर्ण विद्यमान है। उसकी पूर्णता कभी कम हुई हो ऐसा नहीं है। पर इसके लिये

जरूरी है कि इस अज्ञात ब्रह्म को अपनी आत्मा से एक समझते हुये, पहले उससे प्रेम करें।

पाण्डवों ने दुर्योधन के साथ सब तरह से प्रेम का व्यवहार किया। पर वह इसे नहीं समझता था। भीम ने एक बार सहदेव से पूछा कि यह दुर्योधन परमेश्वर से क्यों नहीं डरता? तब सहदेव ने कहा 'आत्मारामा विहितमतयो निर्विकल्पे समाधौ' कि उस परमेश्वर की तरफ दृष्टि जाना कठिन कार्य है। जो सदैव परमात्मा में ही रमण करनेवाले हैं, जो उचित कार्य को करने में रतिवाले हों, उनकी जब अज्ञान की ग्रन्थियाँ समाप्त हो जाती हैं, तब निर्विकल्प स्थिति प्राप्त होती है। जो विवेक के प्रति अन्धा है, वह इस परम ज्योति को जान नहीं सकता। प्रत्येक द्वार खुला है परंतु इसको समझने के लिये जब तक इन तीन चीजों से दूर होकर प्रवृत्ति नहीं करेंगे, तब तक वह अज्ञात ही बना रहेगा। इस अवस्था को कैसे प्राप्त किया जाये, इस पर आगे विचार करेंगे।

प्रवचन - ४

वेदान्त का विचार करते हुये बतलाया कि जीव का और जगत् का स्वरूप परमात्मा से भिन्न नहीं है। 'वेदान्तसिद्धान्तनिरुक्तिरेषा ब्रह्मैव जीवः सकलं जगच्च'। फिर दोनों में अन्तर क्या है? कल बतलाया था कि अज्ञात ब्रह्म तो जीव भी है और जगत् भी है, पर विषयरूप से अज्ञात होने पर जगत् है, और आश्रय रूप से अज्ञात होने पर जीव है। मोक्ष के लिये वह अज्ञात ब्रह्म ज्ञात होना जरूरी है। अज्ञात है, इसलिये दुःख का कारण है। यही ब्रह्म जब ज्ञात हो जाता है तब परमानंद का कारण है। मार्ग में चाहे जैसी चीज हो, उसका ज्ञान हो जाये, तो वह हमारी बाधक नहीं बनती, कष्ट नहीं देती। वही चीज यदि अज्ञात हो तो कष्ट का कारण बनती है। यदि मार्ग में हमें गड्ढे का ज्ञान है तो हम उससे बच निकलते हैं, नहीं जानने पर उससे कष्ट हो सकता है। इसी प्रकार जब तक ब्रह्म अज्ञात है तब तक हमारे दुःख का कारण है, जगत् और हमारा जीवस्वरूप भी दुःख का कारण बना है। हम अपने आप से भी दुःखी हैं। हम यह पाते हैं कि जिसको हम अपना स्वरूप जानते हैं उस पर हमारा कोई नियंत्रण नहीं। मन व शरीर हमारे अनुसार नहीं चलता। अंदर का और बाह्य जगत् दोनों ही हमारे

प्रतिकूल हैं। हम अंदर से और बाहर से भी दुःखी हैं क्योंकि दोनों ही जगह ब्रह्म अज्ञात है। ज्ञात होने पर ब्रह्म आनंदस्वरूप हो जायेगा। विचार के द्वारा ही यह ज्ञात होगा। विचार ही मार्ग दिखा सकता है। मनुष्य में बुद्धि है इसीलिये उसे श्रेष्ठ योनि माना गया है। वह स्वयं अपने आप को देख सकता है, अपने ज्ञान का पूर्ण ज्ञान कर सकता है। यह बुद्धि तत्त्व का वैशिष्ट्य मनस्तत्त्व के वैशिष्ट्य से अलग है। मन जानता है, पर जाने पदार्थों पर विचार की सामर्थ्य उस में नहीं है। यह बुद्धि में है। मनुष्य के पास यह विचार रूपी मशाल हैं। पहले बतलाया था कि परमात्मा ने कोई संकेत छोड़े हैं जिनके सहारे इस संसाररूप जंगल से बाहर निकला जा सकता है। संसार के सभी मतमतान्तर कहते हैं 'हमारे पास संकेत हैं, इसे ही स्वीकार कर इसका ही विचार करो'। पर यदि सबके पास परमेश्वर के संकेत होते तो सन्देशों में कोई भेद न होता और तब रास्ता सरल था। पर संदेश-वाहक और संदेश भिन्न-भिन्न हैं। समस्या आती है कि हम किस पर आधारित रहें? प्रकृति के नियमों के ज्ञान के लिये हमको किसी की जरूरत नहीं। हम स्वयं प्रकृति के विषयों का विश्लेषण करें।

भारत में परमात्मा के विषय में प्रारम्भ से ही यह विचार चला कि जिसका हमें अनुभव है, उसका ही

विचार करें। इसलिये आचार्य शंकर कहते हैं - 'एकं वेदान्तविज्ञानं स्वानुभूत्या विराजते' वेदान्त का जो अनुभव है, वह अपनी अनुभूति, स्व-अनुभूति के आधार पर है। ब्रह्मसूत्र-भाष्य में भी कहते हैं "अनुभवावसाना हि ब्रह्मविद्या" परमात्म-विद्या, ब्रह्म-विद्या तो अनुभव में समाप्त होनेवाली है। हम अपने अनुभव पर विचार करें। कह सकते हो कि पाश्चात्य लोग भी अनुभव को ही केन्द्र बनाकर विचार करते हैं, फिर हमारी विलक्षणता क्या है? विलक्षणता है कि वे एक पैर पर खड़े हैं और हम तीन पैर पर खड़े हैं! अतः उनका सारा विश्लेषण केवल तीसरे हिस्से में ही ठीक है। दो तिहाई हिस्से का वे विचार ही नहीं करते। उन्होंने केवल जाग्रत् काल का ही विचार किया है। वेदान्त कहता है कि सम्पूर्ण मानव का विचार करो। तुम आठ घण्टे सोते हो, उस काल में तुम क्या करते हो? वहाँ भी तो तुम्हारे अनुभव हैं। इसमें स्वप्न भी है, गहरी नींद भी है। तुम्हारे अनुभव के तीन पाद हैं जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति। अतः पाश्चात्य विचारों में स्थिरता, पूर्णता नहीं है। कोई वस्तु जैसे साइकिल भी तीन पैरों पर ही स्थिर होती है। वेदान्त इन तीनों विषयों पर विचार करने के कारण तुम्हारे सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विचार करता है।

इन तीन अवस्थाओं में हमको तीन प्रकार मिलते हैं। जाग्रत्काल में तुम्हारे अंदर अज्ञान है, मन व शरीर है। अज्ञान है, क्योंकि ब्रह्म अज्ञात है। तुम्हारा अन्तःकरण, मन भी है और यह स्थूल शरीर भी है। जाग्रत्काल में ये तीनों कार्यकारी हैं। इन तीनों में अपने-आप को जानते हो। मन के साथ भी तुम्हारा आत्मबोध है। मन के दुःखी होने पर अपने को दुःखी मानते हो। हम न अपनी, न संसार की वास्तविकता जानते हैं, इसलिये हम अज्ञात हैं। जाग्रत् में ये तीनों चीजें तुम्हारे साथ हैं। इनसे मैं का बोध होता है। स्वप्न अवस्था में हम को स्थूल शरीर का पता नहीं, वहाँ अपने मन के खेल को तो जानते हैं, मन तो वहाँ है, अज्ञान भी है केवल स्थूल शरीर का अभिमान नहीं है। तुम्हारा स्थूल शरीर है सत्तर वर्ष का स्वप्न में वह हो जाता है सत्रह साल का! ऐसा जाग्रत् में नहीं होता। गहरी नींद में स्थूल शरीर का भान भी नहीं है, मन और मन के खेलों का भान भी नहीं है। केवल अविद्यामात्र उपाधि रह जाती है। वहाँ कहते हो 'मुझे कुछ पता नहीं, बड़े आनंद से सोया।' मैंने कुछ नहीं जाना अर्थात् अज्ञान। दूसरा अनुभव है 'आनंद में था।' आनंद अर्थात् ब्रह्म। आनंद ही ब्रह्म का रूप है। वहाँ अन्तःकरण और उसका खेल नहीं था। न बाहर के जगत् का खेल था, वहाँ सुषुप्ति भी है, जहाँ से तुम बाहर आते हो। गहरी नींद में चेतना शरीर में व्याप्त

होकर रहती है। गहरी नींद में और मृत्यु में यह अंतर है कि मृत्यु होने पर शरीर ठण्डा हो जाता हैं, नींद में वह गर्म रहता है। प्राण उसी गर्मी को बनाये रखने के लिये धौंकनी चलाते रहते हैं। हवा का आवागमन समाप्त होने से अग्नि समाप्त हो जायेगी। अतः कहा जाता है कि सुषुप्ति मे सब कुछ प्राण में लीन जो जाता है। या कहा है कि सब कुछ तेज में लीन होता है। प्राण या तेज से ही पता लगता है कि तुम शरीर में हो, तुम्हारी आत्मा है। आचार्य शंकर लिखते हैं कि लकड़ी में आग, तेज व्याप्त है तभी तो जलती है। अतिधन्य वेद में भी कहा है 'अग्निर्यथैको भुवनम् प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव'। सारे भूतों में रहनेवाला अन्तरात्मा भी ऐसा ही है जैसे सब पदार्थों में अग्नि रहती है। जलाने पर तभी लपट निकलती है। इसी तरह मन, चेतना सारे शरीर में व्याप्त है। जैसे ही तुम्हारा कर्म फल देने को उद्यत होगा, वैसे ही आँख, कान नाक में लपटें निकलेंगी। श्रुति कहती है कि आत्मा से ही पुनः ये मन श्रोत्र आदि फिर निकल आते हैं।

वह तेज कैसा है? 'अविशेषविज्ञानम्', विज्ञान तो है परंतु कोई 'विशेष' अनुभव नहीं है, अर्थात् किसी चीज का अनुभव नहीं है, केवल अनुभवमात्र वहाँ है, जो सारे शरीर को व्याप्त करके रहता है। इसलिये

किसी भी अंग को यदि घिसोगे तो वह जग जायेगा। हाथ हिलाओगे तो वह जग जायेगा। हाथ हिलाओगे तो, पैर हिलाओगे तो, जगेगा वही क्योंकि वह सारे शरीर में व्याप्त है। यही है जीवनी शक्ति। इस अवस्था में न कोई जाननेवाला है, और न कुछ है जिसको जानता है, केवल ज्ञानमात्र है। सब कुछ बीजरूप में अव्यक्त रूप में मौजूद है, क्योंकि सब कुछ उससे फिर निकलता है जैसे वटबीज से ही सारा वृक्ष है। यह जो सुषुप्ति अवस्था है, वहाँ प्रकट तो कुछ नहीं है परंतु सब कुछ बीजरूप में मौजूद है अतः फिर उसमें से पेड़ की तरह तुम्हारा मन, इन्द्रियाँ, शरीर आदि निकल आयेंगे। सारा संसार प्रकट हो जायेगा। इसका तुमको ज्ञान नहीं इसलिये सुषुप्ति में जो अज्ञात ब्रह्म का स्वरूप है वह अव्यक्त है, बीज है, उसमें से सब कुछ निकलता है। जिस बीज से सब कुछ निकलता है उसे ही ईश्वर कहा जाता है। अतः सुषुप्ति काल में तुम ईश्वर से एक हुये हो। वेद इसीलिये कहता है 'एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्यामी एष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्'। वेद कहता है 'एष सर्वेश्वरः' वही वह बीज है जिसमें से सब निकलनेवाला है। तुम्हारा जो कुछ है वह उसमें से निकलेगा। सुषुप्तिकाल के ऊपर जब विचार करते हैं तब समझ आता है कि न वहाँ कोई जानने वाला है, न किसी चीज को जान रहा है, केवल ज्ञानमात्र है। उस समय तुम नहीं जान रहे हो, उठने

के बाद तुम याद करते हो 'मैंने वहाँ कुछ नहीं जाना।' वहाँ ज्ञाता ज्ञेय का भेद होकर तुमको पता नहीं लग रहा था। केवल ज्ञानमात्र वहाँ पर है।

अंदर बाहर का वहाँ भेद नहीं है। अंदर-बाहर का हम शरीर को लेकर निर्णय करते हैं। अंदर-बाहर का अंतर करने वाला शरीर है। वहाँ शरीर के अभाव में न कुछ अंदर, न बाहर जाना जा रहा है। वहाँ न तुम अपने को कर्ता मानते हो, न कोई कर्त्तव्य है, न कोई चिंता है। पर जाग्रत् में सब कुछ है। यहाँ कर्तापना है। वहाँ तुम कर्ता भी नहीं, भोक्ता भी नहीं। न वहाँ पुण्य है, न पाप का योग है। न राग है, न द्वेष है। ये सब तुम्हारी ही बात बता रहे हैं। अपने अनुभव के साथ घटाते चले जाना। ये सब चीजें वहाँ तुम्हारी नहीं हैं पर सब का बीज अज्ञान मौजूद है। अज्ञान नहीं गया है। यद्यपि विशेष विज्ञान तो चला गया है परंतु विज्ञान अज्ञान के साथ मौजूद है। वहाँ लगता है, चेतना नही है, क्योंकि आदत पड़ी है, किसी विषय का भान होवे, तब समझते हैं कि भान हो रहा है। वहाँ विषय का भान नहीं होने से लगता है कि भान नहीं हो रहा। एक माता कहने लगी कि हमें ध्यान अवस्था में इष्ट का कोई भान नहीं रहता। नींद या शरीर में कोई भारीपन भी नहीं होता, आनंद बना रहता है। इस का मतलब है जिस मूर्ति को विषय रूप से

देख रहे हो, उसका भान नहीं है पर आनंद ही तो कृष्ण का रूप है। जब किसी *चीज का* भान नहीं रहता, तब हमको लगने लगता हैं कि हम अभान हो गये, अचेतन हो गये। इसी प्रकार गहरी नींद में विषय-चेतना न होने के कारण लगने लगता है कि वहाँ तो कुछ भी नहीं है। अतः दार्शनिकों ने प्रायः इस सुषुप्ति का विचार नहीं किया कि उसका क्या विचार करें, वहाँ कुछ है ही नहीं! सुषुप्ति परम आवश्यक है, ईश्वर ने इसीलिये दी है। वहाँ न कर्ता है न भोक्ता, न राग है न द्वेष है।

यह अपना अनुभव है अतः किसी दूसरे प्रमाण की आवश्यकता नहीं। जाग्रत् में उसकी स्मृति भी, याद भी आ रही है। वहाँ न जीव है न ईश्वर है न जगत् है। केवल अज्ञात ब्रह्म है। तुमको वहाँ ऐसा नहीं लगता कि कोई दूसरा तुम्हारा शासन करनेवाला है। यहाँ तो लगता है कि कोई शासन करनेवाला है, रुकावट डालनेवाला है। वहाँ रुकावट डालनेवाला नहीं है, न रुकावट की प्रतीति होकर जीवभाव आता है, न वहाँ जगत् का भान है। इसलिये वहाँ एकता और अद्वयता प्रकट है। यह सुषुप्ति का विचार करने से स्पष्ट होता है। पर इस अद्वितीयता का अकर्तृत्व-अभोक्तृत्व - वीतरागता का केवल वहाँ पता लगता है। सुषुप्ति में तुम्हें पता तो लग जाता है कि तुम्हारा स्वरूप अद्वितीय

है पर प्रत्यक्ष करना चाहो तो विचार इत्यादि साधन करोगे तभी इसका लाभ होगा। वहाँ तो भगवान् ने चिह्न छोड़ा जो प्रत्येक मनुष्य के हृदय में है। परमेश्वर वहाँ बैठा कह रहा है कि अपनी सुषुप्ति पर विचार करो, तुम्हारा वह अपना अनुभव है, इसमें सन्देह की कोई सम्भावना नहीं। सुषुप्ति हम को बतला देती है कि अज्ञात ब्रह्म का स्वरूप क्या है, ईश्वर का स्वरूप क्या है। उससे सारा जगत् उत्पन्न होता है। बीजरूप से सब कुछ वहाँ है। एकमात्र ज्ञान है और ब्रह्म अर्थात् असीम आनंद है। यह अज्ञात ब्रह्म का स्वरूप है। वहाँ किसी प्रकार की बाह्य अभिव्यक्ति नहीं है। ये संकेत अपने स्वरूप को बताने के लिये दिये।

जगत्, जो दीख रहा है उसका स्वरूप क्या है? उसको दिखाने के लिये स्वप्न का संकेत दिया। स्वप्न से पता चलता है जीव और जगत् भाव का क्या स्वरूप है जब स्वप्न के अनुभव का विचार करते हैं। हमारी आँखें बन्द हैं फिर भी वहाँ स्वप्न में शरीर से कहीं ज्यादा बड़े-बड़े हिमालय जैसे पर्वत दिखाई देते हैं! वे शरीर में तो हैं नहीं, जगह ही नहीं है वहाँ! दिखाई देते हैं तो वास्तविक नहीं हो सकते। वैसे ही स्वप्न में काल भी नहीं है। वहाँ तुमने बीस मिनिट की निद्रा में संन्यास आश्रम, दिल्ली में सोते हुये, अमेरिका में न्यू यार्क के बीस साल का जीवन देख लिया! 'गत्वा

देशान्न पश्यति'। स्वप्न में संसार ऐसा ही दीखता है जैसा यहाँ दीख रहा है जाग्रत् में, पर विचार से पता लगता है कि वह कुछ था ही नहीं। ऐसे ही स्वप्न देखनेवाले का शरीर सत्तर साल का, स्वप्न वाले उस का शरीर अठारह वर्ष का होता है। अतः स्वप्न में न हम देखने वाले और न जिन चीजों को देख रहे हैं, वैसी वे यथार्थ हैं। स्वप्न की चीजें जाग्रत् के काम भी नहीं आती। स्वप्न के दस लाख रुपयों से जाग्रत् में कुछ भी खरीदा नहीं जा सकता। जाग्रत् की चीज़ें भी सपने के काम की नहीं। दोनों कालों की चीज़ें एक-दूसरे के काल के उपयोग की नहीं। जाग्रत् में भी जो चीज़ तुम सोच रहे हो वह सत्य नहीं है, स्वप्न में भी तुम ऐसा ही सोचते हो। सपने में भी शरीर में होने वाली चीज को अन्तःस्थ, बाहर दीखने वाली चीज़ को बहिःस्थ मानते हो। बाहर वाली चीज़ को वास्तविक, शरीर के अंदर जो सोचते हो उनको काल्पनिक मानते हो। स्वप्न से आकर मानते हो कि जाग्रत् में चीज़ें बाहर हैं। पर विचार से निश्चित हो जाता है कि स्वप्न के जितने पदार्थ हैं, उनमें और जाग्रत् के पदार्थों में भेद नहीं है। स्वप्न में भी उतनी ही सत्यता लगती है। जब तक हम इस संसार स्वप्न से नहीं उठेंगे, यह भी तभी तक है, यह वास्तविक नहीं है। ये स्वप्न और सुषुप्ति प्रत्येक प्राणी का अनुभव बतला रहे हैं। स्वप्न के द्वारा

परमेश्वर ने जीव और जगत् के स्वरूप को बतलाया। और सुषुप्ति से अपना ईश्वर स्वरूप बतला दिया।

जाग्रत् अवस्था इसलिये रखी कि यह न समझो कि स्वप्न सुषुप्ति केवल तुम्हारी हैं। यह जाग्रत् जगत् स्वप्न के जैसा है, परंतु यह तुम्हारा बनाया स्वप्न नहीं है, यह ईश्वर का बनाया स्वप्न है। जैसे स्वप्न में तुम्हारा खेल होता है वैसे ही यह ईश्वर का खेल है। संसार जैसा देखते हो वैसा नहीं है – यह विचार हमको निराशा नहीं, आशा देता है। यदि संसार वास्तविक दुःख की जगह होती, तो हमारे लिये पूर्ण निराशा थी। यदि हजारों में दस-बीस व्यक्ति अपने को सुखी नहीं समझ रहे हैं, तो हम क्या कर लेंगे? संसार को सत्य मानने वाला सदैव निराशावादी रोता रहेगा। जो वास्तविकता को समझता है कि यह तो शिव-क्रीडा का स्थल है वह कभी निराश नहीं हो सकता। स्वामी अमलानंद आचार्य शंकर के विचार को बतलाते हुये कहते हैं 'स्वशक्त्या नटवद् ब्रह्म कारणं शंकरोऽब्रवीत्' । अपनी शक्ति से जैसे नट खेल दिखाता है, वैसे ही ईश्वर ने क्रीडांगन बनाया है। वेद भी कहता है, यह सारा ससांर आराम अर्थात् बगीचा है। इसके आनंद को लेने यहाँ आये हो। फूलों को प्राप्त करने का प्रयास न करो। साक्षी-भाव से सब चीजों को देखना है, तभी आनंद में रहोगे। ममता से दुःखी होते रहोगे। अतः

निराशा का स्थल नहीं है। यदि इस जीवन में अपने कुछ विकारों को नहीं समाप्त कर पाये तो दुःख नहीं, हमें आगे पुनः संसार में खेलने को मिलेगा। यह आशावाद का संदेश वेदान्त देता है। जाग्रत्, सुषुप्ति और स्वप्न का विचार करना है। यह विचार कैसा हो इसे आगे बतलायेंगे।

प्रवचन- ५

यह बतलाना प्रारम्भ किया था कि वेदान्त सिद्धान्त किस चीज का प्रतिपादन करता है। एक परब्रह्म परमात्मा ही जीव और जगत् रूपों में विद्यमान है। जीवरूप से वह इसका भोक्ता है, जगत् रूप से वह भोग्य है। इस प्रकार अखण्ड चैतन्य ही भोक्ता-भोग्य दोनों भावों को प्राप्त हुआ है। परमेश्वर ने जब भोक्ता जीव-रूप से इसमें प्रवेश किया, तभी अपने निकलने का मार्गसंकेत पहले ही चिह्नित कर दिया। वह किसी दूसरे पर निर्भर नहीं करता। परमेश्वर ने प्रकृति के नियमों को बाँध कर रखा है। हमें केवल इसका आविष्कार करना है। इसी प्रकार जीव के स्वरूप को, जीव के अनुभव के अंदर ही अपने भाव को ढक करके रखा है। हमें केवल ढक्कन हटाना है। इसके लिये केवल विचार आवश्यक है। जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति - इन तीनों अवस्थाओं का जो हमें अनुभव है इसके आधार पर यह विचार होना चाहिये। केवल जाग्रत् के अंदर ही यह सामर्थ्य है कि वहाँ स्वप्न और सुषुप्ति का भी विचार कर सकें। जब स्वप्न आता है तब वह 'स्वप्न' कहकर नहीं आता, 'जाग्रत्' कहकर ही आता है। सपने में हम को यह नहीं लगता कि यह सपना है,

जाग्रत् में आने के बाद ही लगता है कि सपना था। सुषुप्ति में भी किसी प्रकार का स्पष्ट अनुभव नहीं होता। जाग्रत् में ही सुषुप्ति का भी विचार कर सकते हैं। अतः सुषुप्ति व स्वप्न को जाग्रत् में समझना है। स्वप्न द्वारा पता लगा कि जो दृश्य प्रपंच है, जो हमारे अनुभव में आने वाली चीजें हैं वे जैसी दीख रही हैं, वैसी वस्तुतः नहीं हैं। अतः विचार में प्रवृत्ति होती है। सुषुप्ति से हमें पता लगा कि जाग्रत्काल में मन आदि को अपने से अभिन्न मानते हैं, 'मैं' से अलग अपनी कोई वास्तविकता हमको नजर नहीं आती। सुषुप्ति से पता लग गया कि यह 'मैं' हमारा वास्तविक रूप नहीं है। सुषुप्ति में मैं था पर मैं की प्रतीति नहीं थी। जाग्रत् में विचार से पता लगता है कि जो मेरा वास्तविक ज्ञान-स्वरूप है, वह तीनों अवस्थाओं में है। इसमें अनुभव साधन ज्यादा है। किसी के कहने से नहीं मानते कि स्वप्न-सुषुप्ति में मैं होता हूँ। अनुभव है कि मै ही तीनों अवस्थाओं में था। अतः स्वप्न-जाग्रत्-सुषुप्ति आने-जानेवाली चीजें हुईं, पर तीनों में रहनेवाला मेरा स्वरूप, ज्ञानमात्र, उनका आधार हुआ, जिसके ऊपर ये आते-जाते हैं। जैसे रेल की पटरी पर विभिन्न गाड़ियाँ आती-जाती हैं पर पटरी वही बनी रहती है इसी प्रकार ज्ञान-स्वरूप जो मैं, इस पर यदि शरीर, मन, अविद्या आ गये तो जाग्रत् अवस्था आ गई। यदि इसके ऊपर शरीर नहीं रहा, केवल मन, और अज्ञान

रह गये तो स्वप्न आ गया। यदि मन भी नहीं रहा तो सुषुप्ति आ गई। मैं तो जहाँ का तहाँ वैसा ही हूँ। जिसके ऊपर से यह सब निकल रहा है उसे वेदान्त में तुरीय कहा है। वास्तविक चीज को तुरीय कहा है। तीन अवस्थायें आती जाती हैं। वह एक जैसा अविकारी रहता है। उसमें इससे कोई परिवर्तन नहीं होता, जैसे समुद्र में लहरें आने पर भी वैसा का वैसा रहता है। ऋषि कहते हैं कि मैं अखण्ड आनंद का स्वरूप हूँ जिससे ये अनंत ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुये और लीन हो जाते हैं।

यह स्वरूप-विचार करने से समझ में तो आ जाता है, पर यह हमारी स्थिति क्यों नहीं बनती, अपरोक्ष ज्ञान क्यों नहीं हो जाता? इसका कारण है, इस अनुभव को हमने विचार-पूर्वक, संशयों की निवृत्ति-पूर्वक नहीं किया। आचार्य सर्वज्ञात्ममहामुनि बतलाते हैं

"पुरुषापराधमलिना धिषणा, निरवद्यचक्षुरुदयाऽपि यथा।

न फलाय भर्च्छुविषया भवति, श्रुतिसम्भवाऽपि तु तथाऽऽत्मनि धीः।"

दृष्टान्त देते हैंः एक राजा का मंत्री था जिसका नाम था भर्च्छु। वह ब्राह्मण था और राजा का प्रिय था अतः अन्य लोग उससे शत्रुता मानते थे। उनके मनमाने कार्यों

में रुकावट डालता था। एक बार राज्य पर किसी ने आक्रमण किया। लोगों ने राजा से कहा 'भर्च्छु योग्य है, बहादुर है, उसे युद्ध में भेजने से विजय प्राप्त होगी।' उन्होंने सोचा था कि 'ब्राह्मण है, योद्धा तो है नहीं, मर जायेगा, हमारा काम बन जायेगा।' लोगों के कहने से राजा ने भेज दिया। अपनी योग्यता से उसने दुश्मनों के साथ समझौता कर लिया। अब लोगों ने अफवाह फैलायी कि भर्च्छु मारा गया। फौज़ के कुछ लोगों से मिलकर उसे जंगल में बाँधकर मरने को छोड़ दिया। वह किसी प्रकार बचकर नगर तक आया। लेकिन उन लोगों ने प्रबन्ध किया कि वह नगर में प्रवेश न कर पाये। और, राजा से कह दिया कि भर्च्छु मरकर भूत बन गया है। भर्च्छु ने राजा से किसी प्रकार संबंध करने का प्रयत्न किया। राजा एक बार नगर के बाहर हाथी पर बैठ कर गया। राजा को उसने आवाज लगाई। क्योंकि राजा को जँच गया था कि भर्च्छु मर चुका है इसलिये आँख से देखने पर भी राजा को भर्च्छु का निश्चय नहीं हुआ। राजा को भर्च्छु जैसे अपरोक्ष दीखने पर भी जो फल होना चाहिये था वह नहीं हुआ, इसी प्रकार जब हम वेद के बताये मार्ग से चलने की तैयारी करते हैं तब ठीक विचार करने से बात समझ में भी आती है, पर मन में अनेक संशय पड़े हैं, आग्रह है कि ईश्वर ऐसा या वैसा होना चाहिये इत्यादि, और हम संशयों को हटाने में प्रमादी बने रहते हैं। वेदान्त

मन्दिर में उसका प्रवेश नहीं हो सकता जो विचार करने में प्रमादी है। संशय ही रोक, बाधा है, उसकी निवृत्ति करनी पड़ती है।

शास्त्रों में इसलिये तैयारी के लिये कुछ साधन बताये गये हैं। विचार का मतलब होता है, बाँटना, दो चीजों को बाँट कर ही विचार किया जाता है। 'यह' और 'क्या' का भेद करना पड़ता है। सामने चीज एक ही है। 'यह' अर्थात् सामने है। 'क्या' में हम क्रिया, जाति, गुण, संबंध का विचार करते हैं। जाति जैसे वनस्पति, गुण जैसे हरा। या क्रिया का विचार करते हैं - यह रसोईया है, यह चालक है। संबंध, जैसे अमुक का पुत्र है, अमुक देश का रहनेवाला है। जाति, गुण, क्रिया और संबंध - इन चार के आधार पर हम 'क्या' है का विचार करते हैं। यह विभाजन का रूप है। यह विचार क्योंकि वास्तविकता के टुकड़े कर देता है, अतः किसी अन्य विचार से इसकी अखण्डता पकड़नी पड़ती है। विचार में हमको इस तर्क से आगे जाना पड़ता है क्योंकि हमको उच्च चेतना से ही वह अभेद प्राप्त होता है। जाग्रत् की विशेषता यह है कि हमको यहाँ नवीन ज्ञान मिलता हैं। स्वप्न में और गहरी नींद में हमको किसी नई चीज का पता नहीं लगेगा। नवीन चीज का पता तो संसार में, जाग्रत् में ही लगेगा। इसके लिये हमारे पास दो साधन हैं; इसके लिये दो खिड़कियाँ

आँखों की हैं जिन से जगत् के रूप को देखते हैं। दोनों कानों से हम शब्द प्राप्त करते हैं। हमारे पास इन्द्रियाँ हैं, ये पशुओं में भी हैं। वे भी बाह्य जगत् का ज्ञान प्राप्त करते हैं।

परंतु मनुष्य की विशेषता है, ज्ञान का ज्ञान करना। हर मनुष्य जो ज्ञान प्राप्त करता है वह ज्ञान अगली पीढ़ी को मिल जाता है। पशुओं में ऐसा कोई साधन नहीं कि एक पीढ़ी अगली पीढ़ी को ज्ञान दे देवे। हम ज्ञान इन्द्रियों से भी प्राप्त करते हैं और दूसरों के ज्ञान को भी हम जान सकते हैं। अतः हमारा ज्ञान-क्षेत्र विस्तृत हो जाता है। यहीं उच्च चेतना का जन्म होता हैं जिसको अंग्रेजीवाले 'अतिचेतन अनुभव' (super conscious experiences) कहते हैं। केवल ऐन्द्रिय ज्ञान में बँधे व्यक्ति को उच्च चेतना का, अभेद का ज्ञान नहीं हो सकता। इसके लिये श्रुति की जरूरत है। सृष्टि के प्रारम्भ से मनुष्य अपने ज्ञान को थाती रूप से देता रहा है। जिसके आधार पर हम आगे बढ़ते रहे हैं। सनातन धर्म की विशेषता रही है कि किसी भी नवीन ज्ञान को, इसने कभी नकारा नहीं। प्रत्येक नवीन ज्ञान का हम विचार कर, समझेंगे। आज भी यह परम्परा है। राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र, स्वामी दयानंद सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद, श्री अरविंद, रमण महर्षि, अनेक विचारक

हुये, सब ने उस तत्त्व को जानकर, उस अनुभव को हमारे सामने रखा। उस पर प्रत्येक पीढ़ी को विचार करना है। तभी वह अभेद तत्त्व, उच्च तत्त्व समझ में आयेगा। लोग दोष लगाते हैं कि भारतीय दर्शन अपने आप को, केवल श्रुति के आधार पर चलाने का प्रयत्न करता है। पर श्रुति के साथ, हम लोगों का विचार पर जोर है, केवल किसी ने कह दिया, इसलिये हम मानेंगे - ऐसा नहीं है, पर हम उस पर आदरपूर्वक विचार करेंगे, देखेंगे कि अनुभव कहाँ तक उसे स्वीकार करता है। हम लोग ऋषियों की वाणी के आधार पर यह कहते हैं। कोई भी विचारक एक भी शब्द ऐसा नहीं कहेगा, जब तक उसने उसे अनुभव में ढाल न लिया हो। पृथ्वी के आकर्षण का प्रयोग हर विद्यार्थी प्रयोगशाला में करता है। सात रंग मिलकर सफेद रंग बन जाते हैं, यह भी प्रयोग करता है। फिर भी उसको आज भी हम न्यूटन का नियम कहते हैं। जो न्यूटन ने देखा वह हमने भी देखा। सभी जिसका अनुभव करते हैं, वह अनुभव प्रामाणिक होता है। कोई अनुभव केवल हमको हो, पूर्वकाल या वर्तमान काल के अन्य विचारकों को न हुआ हो, वहाँ शंका बनी रहेगी। अतः तत्त्व को जानने के लिये विचार आवश्यक है। इसके लिये अपना अनुभव भी लेना है। प्राचीन और आधुनिक अनुभवों का विचार करके, निर्णय पर पहुँचना है।

जब हम जीव के स्वरूप पर विचार करते हैं तब हमको अपने तीन अनुभव सदैव मिलते हैं। 'अघोरेभ्योऽथ घोरेभ्यो घोरघोरतरेभ्यः'। परमात्मा हमको तीन रूपों मे नजर आता है। एक उसका अघोर, शान्त रूप है। दूसरा घोर, दुःखदायी रूप है। तीसरा घोरतर रूप है, सर्वथा जहाँ पर तम और अंधकार है। जब हमारा मन शान्त होता है, उस समय आनंद का अनुभव होता है। शान्त मन में ही आनंद आता है। यह हमारा अघोर रूप है। जब हमारा मन काम, तृष्णा आदि के द्वारा विचलित हो रहा होता है, उस समय दुःख का अनुभव है। वह घोर रूप है। जिस समय हमारा मन मोह में मूढ हो जाता है, उस समय अंधकार जैसा अनुभव होता है। वह घोरतर रूप है। सांसारिक अनुभव में परमेश्वर की ये तीन मूर्तियाँ सदैव आती दीखती हैं। शान्त वृत्ति में सत्, चित्, आनंद रूपता भी है। जब-जब शान्त वृत्ति बनेगी, तब-तब आनंद का अनुभव होगा। जब दुःख की वृत्ति है, वहाँ ज्ञान तो है, चिद्रूपता है, पर वहाँ आनंद नहीं है। वहाँ परमात्मा का सत् चित् रूप तो प्रकट है, परंतु आनंद रूप प्रकट नहीं है। जहाँ मूढ वृत्ति है, पत्थर है, उसमें है-पना तो है, सत् तो है ही, लेकिन चित् और आनंद रूप नहीं हैं। हम को सत् का चित् का और आनंद का अनुभव जगत् में है, और अपने मन में भी सत्, चित् और आनंद का

अनुभव है। इसलिये जगत् में भी सच्चिदानंदरूपता उपलब्ध होती है।

प्रश्न है, तब हमेशा आनंदरूपता क्यों नही? अग्नि में दो चीजें होती हैं - एक गरमी और दूसरी रोशनी। पानी को कितना भी गर्म करो, उसमें गर्मी तो आयेगी, प्रकाशरूपता नहीं पर लकड़ी में ये दोनों आयेंगी - गर्मी और प्रकाश। यह वस्तु-धर्म है। इसी प्रकार शान्त वृत्ति में तीनों चीजें प्रकट हो जाती हैं, अन्य वृत्तियों के अंदर सारी चीजें प्रकट नहीं होती।

इस विचार के बाद दो साधन बनते हैं - पहला, सच्चिदानंद का अनुभव करने के लिये, जितना मन को शान्त, यथासंभव, कर सको, करो और दूसरा, जिस समय व्यवहार करो उस समय कामना आदि से दूर रहो। वेदान्त तुम्हारे जीवन को परिवर्तित करने का प्रयत्न करता है। जब किसी से व्यवहार करो, चाहे पत्थर से ही, तब याद रखो कि पत्थर है अतः उसे 'है'-पना देनेवाला परमात्मा है। 'है' रूप से तुम प्रत्येक चीज में परमात्मा को भी याद करो। जब कभी तुम्हारे में दुःख का अनुभव होता है, तब याद रखो कि जो तुमको चित् अर्थात् ज्ञान हो रहा है, और जो दुःख में 'है'पना है ये दोनों परमात्मा का रूप हैं। दुःख वहाँ अज्ञान का रूप है। असत्, जड, दुःख ये माया के रूप हैं। दुःख

में जो ज्ञान है वह परमात्मा है, उसमें दुःखपना, अज्ञान की देन है। शान्तरूप के अंदर पूर्ण सच्चिदानंद विद्यमान है। इस प्रकार निरंतर परमात्म-चिन्तन होता रहेगा। यह है ज्ञान की सीधी प्रक्रिया जो सब समय की जा सकती है, धीरे-धीरे इसके अंदर स्थिरता होती चली जाती है, मनुष्य के संशय सारे दूर हो जाते हैं और जो वास्तविक सच्चिदानंद रूपता है वह प्रकट हो जाती है। उसके प्रकट होने से यह सारा जगत् तुम्हारे लिये एक नंदनवन हो जाता है! आचार्य शंकर कहते हैं 'सम्पूर्ण जगदेव नंदनवनम्' यह सारा जगत् जिसको हम समझ रहे हैं कि हमारे बंधन का कारण है, दुःख का कारण है, यह स्वतः ही नंदनवन हो जाता है, आनंद की जगह हो जाती है। यह जो वेदान्त का स्वरूप है, इसी को कहते हैं "अखण्डरूपस्थितिरेव मोक्षः"। सच्चिदानंद रूप से स्थिर हो जाना - यही मोक्ष है। इसका साधन सब अनुभवों पर विचार करना होता है। जो अखण्ड, अद्वितीय अनुभव है, इसमें श्रुति ही प्रमाण है। इस प्रकार से हम लोगों ने संक्षेप में वेदान्त के विषय पर विचार किया। भगवान् उमारमण से यही प्रार्थना है कि आप लोग इस वेदान्त-निष्ठा को प्राप्त करके आगे बढ़ते रहें।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

*****